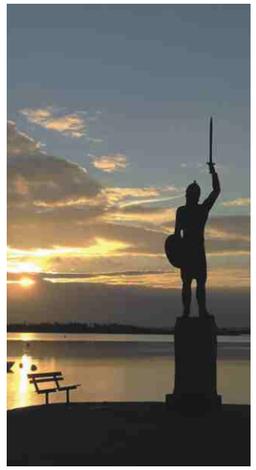

चटपटे जॉन डबलडे से मिलने के पहले मैं उनकी बनाई अटपटी मूर्ति से मिला। इंग्लैण्ड में माल्डन गाँव के समुद्र किनारे यह भीमकाय पुतला अकेले ही खड़ा है। पुतलों को अकेले ही रहना पड़ता है। मुझे हैरानी हुई कि यह एक बूढ़े सेनापति का पुतला था जो गाँव की ओर पीठ किए समुद्र में किसी को ललकार रहा था। उसे देखने वाले पीछे खड़े थे और समुद्र में कोई नहीं था। पुतला इतना ऊँचा था कि सिर उठाकर देखने पर आपको उसकी ठोड़ी और नाक के बाल ही दिखाई देते। चेहरे के भाव देखने के लिए नाव में सवार होकर समुद्र के रास्ते उस तक आना होता। मूर्ति कैसी बनी थी यह तो अँग्रेज़ ही जानें! क्योंकि वह उनके इतिहास के एक नायक की थी। जिस तरह वह लगाई गई थी उससे लगा कि मूर्तिकार ज़रूर मज़ेदार किरदार होगा।

बातूनी मूर्तिकार और नौसिखिया मिट्टी

दिलीप चिंचालकर

संयोग इसे कहते हैं। डेढ़ वर्ष बाद वही मूर्तिकार भारत में मेरे घर आ धमका। मेरे पिता की मूर्ति बनाने के लिए। यूँ तो इंग्लैण्ड में रहते ही उसने मुझे अपने घर खाने पर बुलाया था। लेकिन पूरे समय वह तरह-तरह के अँग्रेज़ी व्यंजन बनाकर हमें परोसने में मशगूल रहा। वहाँ एक बातूनी लड़की भी थी जिसे मेरे साथ खाने पर न्योता गया था। वह मुझे अनोखी बातें बताती रही। जैसे लन्दन की सड़कों पर देर रात में भी साइकिल पर चलना लड़कियों के लिए सबसे सुरक्षित है। सर जॉन डबलडे उससे भी बड़े बातूनी निकले। पिताजी की मूर्ति उन्होंने पन्द्रह घण्टों (पाँच दिनों) में पूरी कर ली। सात किलो मिट्टी के अलावा उसे बनाने में तीस घण्टों की गपशप लगी। क्योंकि जॉन सरजी काम से ज़्यादा दिलचस्पी दर्शकों से बातचीत में लेने लगते हैं।

तो, आपने मूर्ति बनाने में दिलचस्पी लेना कब शुरू किया? यह प्रश्न उनसे मिलने आए एक पत्रकार ने पूछा।

जॉन सरजीः जब मैं तीन वर्ष का था। दूसरे विश्वयुद्ध में मेरे पिताजी एक छोटे युद्धपोत के कमाण्डर थे। नॉर्मण्डी पर आक्रमण के दौरान उनका जहाज़ डूब गया था। तब नॉर्वे के लोगों ने उन्हें बचाया था। युद्ध खत्म होने के बाद वे छुट्टियाँ मनाने हमें नॉर्वे ले गए। वहाँ समुद्र किनारे गीली मिट्टी में खेलते हुए मूर्तियाँ बनाने में मज़ा आने लगा। दो वर्ष बाद यानी पाँच वर्ष की उम्र में मैंने तय कर लिया कि मैं मूर्तिकार ही बनूँगा।

आपने मूर्तिकला ही क्यों चुनी? पत्रकार का दूसरा सवाल था।

उत्तर मिला। क्योंकि उस समय मैं पेंटिंग नहीं करता था।

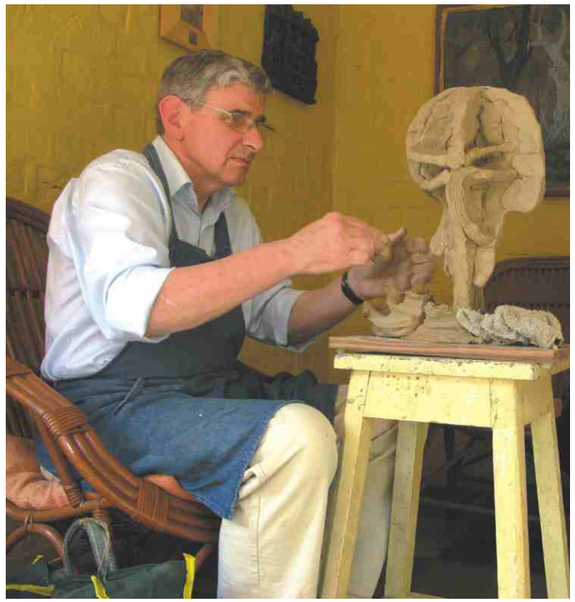

आप मूर्तियाँ न बनाते तो क्या करते? आखिरी बेहूदा सवाल था।

सरजी मैं फिल्में बनाता! क्योंकि उनमें चित्रों के साथ खेल करने की गुंजाइश अधिक रहती है। मूर्तियाँ मिट्टी के लौंदे से बनती हैं इसलिए यह न समझ बैठना कि वे निर्जीव होती हैं। ऐसा नहीं है कि उन्हें कैसा भी बना दो तो वे चुपचाप सह लेती हैं।

अलबत्ता, वे खुद बताती हैं कि हमें ऐसे बनाओ। बात कुछ खास समझ में नहीं आ रही थी। यह देखकर सरजी ने बताया कि प्रतिमा को गढ़ने के बाद उसका साँचा बना लिया जाता है और मिट्टी की मूर्ति अलग पटक दी जाती है। मैं उसे सम्हालकर रखता हूँ और बार-बार उपयोग में लाता हूँ। चालीस वर्षों में मेरे पास चार टन मिट्टी इकट्ठा हो गई है। ज़ाहिर-सी बात है, इस मिट्टी को भी बार-बार गढ़े जाने का अभ्यास हो गया है। जैसे, पुराने नौकर को मालिक की सनकों की आदत हो जाती है। वह मिट्टी मेरा कहा मानती है। भारत की मिट्टी के लिए अभी मैं नया हूँ। यह अभी ज़िद्दी है। इसे काम करना सिखाना होगा।

हमें बातों में उलझाकर सरजी मिट्टी की छोटी-बड़ी लोइयाँ बनाकर लकड़ी की एक खड़ी चौरस डण्डी पर चिपकाते जा रहे थे। मैंने सोचा था कि वे एक बड़े लौंदे को खुरचकर उसे चेहरे का आकार देंगे। लेकिन पहले उन्होंने सिर का ढाँचा तैयार किया। ऊपर से देखने पर यह बिना छत की दीवारों की तरह दिख रहा था। बाजू से

अँग्रेज़ कलाकार का इन्दौर तीर्थ

जॉन डबलडे का एक बेटा था एडविन। लन्दन में डॉक्टरी की पढ़ाई पूरी करने के बाद सन् 1999 में वह तीन महीने इन्दौर आकर रहा। उसका मानना था कि एशिया के कम सुविधाओं वाले अस्पताल में रहकर अच्छा काम कर दिखाना एक डॉक्टर की खरी परीक्षा है। इसलिए उसने चाचा नेहरु अस्पताल को चुना। अपने देश लौटने के बाद एक रेल दुर्घटना में वह मारा गया। पिता को सूझ नहीं पड़ रहा था कि इस दुख को वह कैसे ज़ब्त करे। वे ठहरे कलाकार। सो अपने लाडले बेटे के अन्तिम संस्कार के पहले के दो दिन उन्होंने अपने हाथ से बेटे के लिए ताबूत बनाने में लगाए। उसकी याद में पाँच हज़ार पाउण्ड उन्होंने इन्दौर के चाचा नेहरु अस्पताल को दिए। जिससे मरीज़ों के लिए कुछ ऐसा उपयोगी काम हो सके जो डॉक्टरी दायरे में नहीं आता।

उनका इन्दौर आना और माण्डू पर बारह चित्र बनाना अपने खोए हुए बेटे को याद करने का एक हिस्सा है। एडविन माण्डू भी घूमा था। दिलचस्प बात यह है कि जॉन डबलडे माण्डू गए बगैर ही इन्दौर में उसके चित्र बना रहे थे। उनका आधार था एडविन के कैमरे से उतारे हुए माण्डू के चित्र। सभी चित्र अपने आप में पूरे हैं। उनको एक-दूसरे से सटाकर रखो तो एक म्यूरल बन जाता है। चित्रों में बार-बार आती एक मनुष्य की आकृति माण्डू के भील की नहीं है। वह युवा और चपल एडविन की लगती है। कभी पेड़ों के बीच से दौड़कर तो कभी सिर के बल खड़ा होकर वह आनन्दित हो रहा है।

ये चित्र बनाना जॉन डबलडे के लिए आनन्द और दर्द दोनों का अनुभव था। मेरे पिताजी की मूर्ति बना चुकने के बाद उन्होंने मुझे मन की एक बात बताई, "एडविन ने इन्दौर में एक ज़िन्दादिल बूढ़े से मिलने की बात कही थी। मैं अब समझ गया हूँ कि वे तुम्हारे पिता ही थे – विष्णु चिंचालकर।"

देखने पर पिताजी की आकृति पहचान में आ रही थी। सरजी ने मेरे पिता को नहीं देखा था। चित्र भर देखे थे। बातचीत के ज़रिए वे उनके बैठने-बोलने के खास तरीकों की टोह ले रहे थे। इन्हीं सब बातों से व्यक्तिशिल्प जीवंत लगते हैं। सिर्फ हूबहू बनाने में खास बात नहीं होती।

यूँ जॉन डबलडे नाईट (यानी उपाधि प्राप्त सर) नहीं हैं। हिन्दुस्तानियों की आदत के अनुसार अभ्यास मण्डल ने निमंत्रण पत्र में उनके नाम के आगे सर लगा दिया। परन्तु हमारे लिए तो सारे अँग्रज़ रानी के प्रतिनिधि हैं। भले ही रानी ने अपनी उत्सवी तलवार उनके माथे से छुआई न हो। इसलिए यह खालिस हिन्दुस्तानी सम्बोधन ज़्यादा ठीक लगता है- सरजी।

मूर्तिकारी के शुरुआत के दिनों में सरजी का लॉर्ड माउण्टबैटन के साथ खासा घरोबा रहा। बाद में, उन्हें ड्यूक ऑफ विण्डसर (यानी रानी के पति), प्रधानमंत्री टॉनी ब्लेयर, राष्ट्रपति नेल्सन मण्डेला और हमारे परिचित चार्ली चैप्लिन और शरलॉक होम्स की मूर्तियाँ गढ़ने का भी मौका मिला। अपनी आदत के अनुसार सरजी ने इन सबके साथ खूब गप्पें लड़ाईं। उनमें नेल्सन मण्डेला के संग बातचीत का एक टुकड़ा याद रह जाने वाला है। इसमें कानों से सुनाई दे ऐसी बातचीत हुई ही नहीं।

एक दिन जब मण्डेला मूर्ति की मुद्रा में सरजी के सामने बैठे थे, उनसे मिलने के लिए एक लड़की आई। वह अफ्रीकी नेशनल काँग्रेस की कार्यकर्ता थी। मिलने का समय पहले से तय था। लड़की केवल अठारह वर्ष की थी और काफी लँगड़ाकर चल रही थी। संघर्ष के दिनों में मशीनगन की गोलियों की बौछार ने उसकी टाँगें छलनी कर दी थीं। अब अपने प्रिय नेता को सामने पाकर वह अचानक गूँगी हो गई। उसकी भावनाएँ समझकर मण्डेला भी उसके हाथ अपने हाथों में थामे चुपचाप बैठे रहे। पन्द्रह मिनट यूँ ही गुज़र गए। मुलाकात का वक्त खत्म हो गया। मण्डेला उसे सहारा देकर दरवाज़े तक छोड़ आए। यह बताते हुए सरजी की आँखें नम हो गईं। उस समय भी अपने आँसुओं से उन्होंने मण्डेला की मूर्ति को सींचा होगा। उसमें भाव भरे होंगे। जैसे अभी मेरे पिताजी की मूर्ति पर श्रद्धा से पानी की बूँदें छिटक रहे थे। भारत के सूखे मौसम में मिट्टी की मूर्तियाँ बहुत जल्दी तड़क जाती हैं। इसलिए उन्हें नम बनाए रखना होता है और दरारें निकलने से पहले उनका साँचा ढाल लेना होता है। फिर पलस्तर, काँसा या फाइबर ग्लास में वैसी कई मूर्तियाँ निकाली जा सकती हैं।

साँचे से निकली पलस्तर की मूर्ति मैंने चारों ओर से घूमकर देखी। मज़े की बात यह कि मुझे उसके सिर का पीछे का भाग सबसे अच्छा लगा। मुझे समझ में आया कि पीछे से आकृति देखकर व्यक्ति पहचाना हुआ लगता है। फिर धीरे-धीरे चेहरा सामने आने पर मानो रहस्य का परदा हटता जाता है। अब सोचता हूँ कि घर में मूर्ति को उलटा घुमाकर ही रखूँ। लगता है मूर्तिकार की गपशप का असर मुझ पर कुछ ज़्यादा ही हुआ है। तभी तो माल्डन के बूढ़े सेनापति की तरह मैं भी मूर्ति का पिछला हिस्सा सामने की ओर कर रहा हूँ।

2010 अन्तर्राष्ट्रीय जैवविविधता वर्ष

फोटो: जैकब नलियानम

5. मिली-जुली किस्म

चावल की कई संकर किस्में भी तैयार की गई हैं। एक किस्म का किसी दूसरी किस्म से कृत्रिम रूप से परागण करने से नई संकर किस्म बनती है। इससे नई किस्म में दोनों के मनचाहे गुण आने की सम्भावना रहती है। पर कभी-कभी सारी तैयारियाँ धरी की धरी रह जाती हैं। कई दफा संकर किस्में स्थानीय रोगों से लड़ पाने में सक्षम नहीं होती हैं। या उचित पैदावार पाने के लिए कुछ संकर किस्मों में काफी रासायनिक खाद देनी पड़ती है। इससे लम्बे समय में मिट्टी को बहुत नुकसान होता है। यही कारण है कि आज बहुत से लोग ज़्यादा पैदावार पाने के लिए जैविक खेती करते हुए स्थानीय किस्में उगा रहे हैं।